

November 2021

Bulletin of Sri Aurobindo
International Centre of Education

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

नवम्बर २०२१



श्रीअरविन्द आश्रम
पॉण्डिचेरी, भारत

बुलेटिन नवम्बर २०२१

विषय-सूची

एक युवा अध्यापिका के नाम पत्र	'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६	३
विकास की भारतीय तथा पाश्चात्य धारणाएँ	श्रीअरविन्द	१५
२१ अगस्त १९५७ का वार्तालाप	'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९	१७
पूर्ण आत्मदान	श्रीअरविन्द	२०
आश्रम का उद्देश्य	'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३	२१
श्रीअरविन्द के उत्तर (८२)		२२

एक युवा अध्यापिका के नाम पत्र

(श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र की एक युवा अध्यापिका के नाम।)

मधुर माँ,

मैं श्रीअरविन्द की पुस्तकों को किस मनोभाव के साथ पढ़ूँ, जब वे कठिन हों और मेरी समझ में न आयें? उदाहरण के लिए 'सावित्री', 'दिव्य जीवन'।

एक समय में थोड़ा-सा पढ़ो और जब तक समझ में न आये बार-बार पढ़ो।

श्रीअरविन्द कहते हैं, "योग क्रियात्मक मनोविज्ञान के सिवा कुछ नहीं है।" इस वाक्य का मतलब क्या हुआ? सारा अनुच्छेद ही मेरे लिए स्पष्ट नहीं है।

क्योंकि तुम मनोविज्ञान के बारे में कुछ नहीं जानतीं। मनोविज्ञान का अध्ययन करो, तब तुम समझ जाओगी कि उनका तात्पर्य क्या है।

श्रीअरविन्द कहते हैं, "तुम जिस किसी रूप में और जिस किसी भाव से उनके निकट जाओ, वे उसी रूप में, उसी भाव से तुम्हारी आहुति को स्वीकार करते हैं।" इसका क्या तात्पर्य हुआ?

इसका मतलब है कि हम जो कुछ अर्पण करते हैं निश्चित रूप से परम प्रभु को ही अर्पित करते हैं, क्योंकि वे ही हर चीज़ के पीछे एकमात्र सद्बस्तु हैं।

श्रीअरविन्द ने लिखा है, "जो शाश्वत को चुनता है वह शाश्वत द्वारा चुना गया है", तो माँ, औरों के बारे में क्या? जीवन का लाभ ही क्या यदि भगवान् हमें नहीं चाहते। मुझे लगता है कि सचमुच भगवान् ने हम सबको चुन लिया है, लेकिन इस वाक्य का अर्थ क्या होगा तब?

वास्तव में भगवान् ने सभी को और सभी चीज़ों को चुन लिया है, और हर व्यक्ति और हर चीज़ उन्हीं की ओर लौट जायेगी, लेकिन कुछ के लिए यह हज़ारों जीवन ले लेगा जब कि कुछ औरों के लिए यह इसी जीवन में सम्पन्न हो जायेगा। इसी बात से दोनों में फ़र्क पड़ता है।

२३ मई १९६०

मधुर माँ,

आपने कहा है कि मैं अच्छी तरह नहीं सोचती। अपने विचार को कैसे विकसित किया जाये?

तुम्हें बहुत ध्यान और एकाग्रता के साथ पढ़ना चाहिये—उपन्यास या नाटक नहीं बल्कि ऐसी पुस्तकें जो तुम्हें सोचने के लिए प्रवृत्त करें। तुमने जो पढ़ा है उस पर तुम्हें ध्यान करना चाहिये, एक विचार पर तब तक मनन करना चाहिये जब तक उसे समझ न जाओ। कम बोलो, स्थिर और एकाग्र रहो और तभी बोलो जब अनिवार्य हो।

१ जून १९६०

मधुर माँ,

आपने अध्यापकों से कहा है कि “वे शब्दों द्वारा सोचने की जगह विचारों द्वारा सोचा करें।” आपने यह भी कहा है कि इसके बाद आप उनसे अनुभूतियों द्वारा सोचने के लिए कहेंगी। क्या आप सोचने के इन तीनों तरीकों पर कुछ प्रकाश डालेंगी?

हमारे मकान पर एक बहुत ऊँची मीनार है। इस मीनार के ऊपर एक बहुत प्रकाशमान, खाली कमरा है, हम खुली हवा और पूर्ण ज्योति में बाहर निकलें उससे पहले का यह अन्तिम कमरा है।

कभी-कभी जब हमें छुट्टी मिल जाती है तो हम उस प्रकाशमान कमरे तक चढ़ जाते हैं और अगर हम वहाँ बहुत शान्त रहें तो दो-एक अतिथि हमसे मिलने के लिए आते हैं, कुछ लम्बे होते हैं, कुछ छोटे, कुछ अकेले होते हैं, कुछ दलों में; सभी प्रकाशमान और शालीन होते हैं।

साधारणतः, उनके आने की खुशी में, उनके स्वागत की जल्दी में हम अपनी शान्ति खो बैठते हैं और दौड़ते-भागते नीचे के बड़े कक्ष में आ जाते हैं जो मीनार की नींव और शब्दों का भण्डार है। यहाँ न्यूनाधिक उत्साह के साथ, हमारी पहुँच में जितने शब्द हैं उन्हें चुनते, त्यागते, इकट्ठा करते, जोड़ते, अव्यवस्थित करते, पुनः व्यवस्थित करते हैं और इस तरह अपने पास आये हुए इस या उस आगन्तुक का चित्र बनाने की कोशिश करते हैं; लेकिन बहुधा हम आगन्तुक का चित्र बनाने की जगह व्यंग्य-चित्र बनाने में ही सफल होते हैं।

फिर भी, अगर हम बुद्धिमान् होते तो हम ऊपर ही, मीनार की चोटी पर बने रहते, बिलकुल शान्त, आनन्दमय मनन में बने रहते। तब, उसके कुछ समय बाद, हम स्वयं आगन्तुकों को अपने लालित्य और सौन्दर्य को खोये बिना धीरे-धीरे, शालीनता के साथ, शान्ति से उतरते देखते, और जब वे शब्दों के भण्डार-गृह को पार करते हैं तो बिना प्रयास के, अपने-आप, ऐसे शब्दों को पहन लेते हैं जो उन्हें इस जड़-भौतिक भवन में भी दिखायी देने के लिए आवश्यक हों।

यही है जिसे मैं विचारों द्वारा सोचना कहती हूँ।

जब यह प्रक्रिया तुम्हारे लिए रहस्यमय न रह जाये, तब मैं तुम्हें बतलाऊँगी कि अनुभूतियों

द्वारा सोचने का अर्थ क्या है।

१ जून १९६०

मेरी प्यारी बच्ची,

मैंने तुम्हारा अच्छा-सा पत्र अभी-अभी पढ़ा है। किसी चीज़ से न डरो : जो अपनी अभीप्सा में सच्चे और निष्कपट हैं वे यहाँ बने रहेंगे और उनके अन्दर जिस किसी चीज़ को बदलने की ज़रूरत है उसे बदलने के लिए वे समस्त सहायता पायेंगे। तुम विश्वास रख सकती हो कि मेरी शक्ति हमेशा तुम्हारे साथ रहेगी ताकि तुम जो भी प्रगति करना चाहती हो वह कर सको।

विश्वास रखो मेरी बच्ची, सब कुछ ठीक होगा।

५ जून १९६०

मधुर माँ,

श्रीअरविन्द “कामनाओं की केन्द्रीय ग्रन्थि” के बारे में कहते हैं जिसे काटना चाहिये। उसे कैसे किया जा सकता है और कहाँ से शुरू किया जाये?

कामनाओं की केन्द्रीय ग्रन्थि है पृथक् व्यक्तित्व का भाव; वह है अहंकार। अहंकार के गायब होने से कामनाएँ भी गायब हो जाती हैं।

१३ जून १९६०

मधुर माँ,

एक दिन आपने कक्षा में अपने हाथ फैला कर कहा था कि हमें अपना सब कुछ आपको दे देना चाहिये, अपने समस्त दोष, अपनी बुराइयाँ और गन्दगी भी। क्या उनसे पिण्ड छुड़ाने का यही तरीका है, इसे कैसे किया जाये?

व्यक्ति अपने दोषों को इसलिए रखता है क्योंकि वह उन्हें इस तरह पकड़े रहता है मानों वे बहुमूल्य हों, व्यक्ति अपनी बुराइयों से ऐसे चिपका रहता है जैसे कोई अपने शरीर के किसी अंग से चिपका रहता है और किसी बुरी आदत को निकालने से वैसी ही तकलीफ़ होती है जैसी दाँत उखाड़ने से। इसी कारण व्यक्ति प्रगति नहीं कर पाता।

जब कि अगर व्यक्ति उदारता के साथ अपने दोष, बुराई या बुरी आदत की भेंट चढ़ा दे तो उसे भेंट करने का आनन्द मिलता है और उसके बदले में, जो दिया गया है उसके स्थान पर, ज़्यादा अच्छे और ज़्यादा सच्चे स्पन्दन लाने की शक्ति पाता है।

१३ जून १९६०

मधुर माँ,

जब हम आपसे गहरा प्रेम करते हैं और घनिष्ठ सम्पर्क में होते हैं तो हमें लगता है कि भगवान् हमारे, ऐकान्तिक रूप से हमारे हैं, (यह नहीं कि हम उनके हैं) ऐसा क्यों होता है?

दोनों समान रूप से सत्य हैं और दोनों का एक साथ अनुभव होना चाहिये, लेकिन मानव अहंकार हमेशा देने की नहीं, लेने की वृत्ति रखता है। इसी कारण ऐसा लगता है।

३ जुलाई १९६०

मधुर माँ,

मेरे लिए श्रीअरविन्द की ओर जाने की अपेक्षा आपकी ओर जाना ज़्यादा आसान है। क्यों? हमारे लिए श्रीअरविन्द जो कुछ हैं वह सब आप भी हैं और साथ ही दिव्य और प्रेममयी जननी भी हैं। तो क्या श्रीअरविन्द के साथ भी यही नाता जोड़ने की ज़रूरत है?

तुमने अपने-आप ही अपने प्रश्न का उत्तर दे दिया। मैं तुम्हारे लिए एक माँ हूँ जो तुम्हारे बहुत ही निकट है, जो तुमसे प्यार करती और तुम्हें समझती है; इसी कारण तुम्हारे लिए प्रेम-भरे विश्वास के साथ, बिना भय और संकोच के, मेरी ओर आना ज़्यादा आसान है। श्रीअरविन्द हमेशा तुम्हारी सहायता और पथ-प्रदर्शन के लिए तुम्हारे साथ होते हैं; लेकिन यह स्वाभाविक है कि तुम्हें उनकी ओर उस तरह के आदर के साथ जाना चाहिये जैसे योग के स्वामी के पास जाती हो।

३ जुलाई १९६०

मधुर माँ,

चैत्य सत्ता और अन्तरात्मा ठीक-ठीक हैं क्या? और चैत्य के विकास का क्या मतलब है? उसका परम पुरुष के साथ क्या सम्बन्ध है?

अन्तरात्मा और चैत्य सत्ता ठीक एक ही चीज़ नहीं हैं, यद्यपि उनका सारतत्त्व एक ही है।

अन्तरात्मा वह दिव्य चिनगारी है जो हर सत्ता के केन्द्र में निवास करती है; वह अपने दिव्य स्रोत के साथ एकात्म है, वह मनुष्य के अन्दर भगवान् है।

पार्थिव विकास में अपने अनगिनत जीवनों के दौरान चैत्य सत्ता इस दिव्य केन्द्र, अन्तरात्मा के चारों ओर क्रमशः निर्मित होती रहती है, जब तक ऐसा समय न आ जाये कि पूरी तरह निर्मित और पूर्णतया जाग्रत् चैत्य सत्ता, जिस अन्तरात्मा के चारों ओर निर्मित होती है उसी

का, सचेतन कोष न बन जाये।

और इस तरह भगवान् के साथ तदात्म होकर वह जगत् में उनका पूर्ण यन्त्र बन जाती है।
१६ जुलाई १९६०

मधुर माँ,

आपने कहा है कि एक बार हम अपनी चैत्य सत्ता पा लें तो फिर उसे कभी नहीं खो सकते। ऐसा ही है न? लेकिन अगर हम ग्रहणशील हों तो क्या हम समय-समय पर उसके सम्पर्क में आ सकते हैं?

जब तुम अपनी चैत्य सत्ता के साथ सम्पर्क सिद्ध कर लेते हो तो यह वस्तुतः निश्चयात्मक होता है।

लेकिन इस सम्पर्क के प्रतिष्ठित होने से पहले, अमुक परिस्थितियों में तुम सचेतन रूप से चैत्य प्रभाव पा सकते हो, जो निश्चय ही सत्ता में सदा एक आलोक पैदा करता है और जिसका प्रभाव न्यूनाधिक रूप से स्थायी होता है।

१६ जुलाई १९६०

मधुर माँ,

अन्तरात्मा अपने-आपको व्यक्तिभावापन्न बना कर धीरे-धीरे चैत्य सत्ता में बदल लेती है। उसके तेज़ी से बढ़ने की क्या शर्तें हैं?

यह कहना ठीक होगा कि अन्तरात्मा उत्तरोत्तर एक व्यष्टि-रूप धारण करती है जो चैत्य सत्ता बन जाता है। चूँकि अन्तरात्मा स्वयं परम पुरुष का अंश है, वह अविकारी और शाश्वत है। चैत्य सत्ता प्रगतिशील और अमर है।

आत्मज्ञान, आत्मसंयम और आत्माधिकार के सभी तरीके अच्छे हैं। तुम्हें वह तरीका चुनना चाहिये जो तुम्हारे पास सहज रूप से आये और तुम्हारे स्वभाव के अनुकूल हो। एक बार तरीका चुन लेने के बाद तुम्हें अपनी बुद्धिमत्तापूर्ण इच्छा का उपयोग कभी न हारने वाले ऐसे अध्यवसाय के साथ करना चाहिये जो किसी विघ्न-बाधा से नहीं सकुचाता। यह एक लम्बा और सूक्ष्म काम है जिसे सच्चाई के साथ हाथ में लेना चाहिये और इसे कर्तव्यनिष्ठ, पूर्ण, हमेशा बढ़ती हुई सच्चाई के साथ जारी रखना चाहिये।

साधारणतः सरल मार्ग हमें कहीं नहीं ले जाते।

२८ जुलाई १९६०

मधुर माँ,

क्या कुकर्मों और निम्न चेतनावाले बाहरी जीवन का चैत्य सत्ता पर कोई असर होता है? क्या उसकी अवनति की सम्भावना रहती है?

निम्नतर और बुरे जीवन का केवल एक ही असर हो सकता है और वह है बाहरी सत्ता को चैत्य सत्ता से अधिकाधिक अलग करना। तब चैत्य सत्ता उच्चतर चेतना की गहराई में उतर जाती है और कभी-कभी शरीर से अपना सम्बन्ध काट भी लेती है और तब शरीर पर प्रायः आसुरी या राक्षसी सत्ता का अधिकार हो जाता है।

स्वयं चैत्य सत्ता अवनति की समस्त सम्भावनाओं के ऊपर रहती है।

२८ जुलाई १९६०

मधुर माँ,

जो सत्ता सामान्यतः अचेतन होती है उस पर अन्तरात्मा का प्रभाव कैसे होता है?

अन्तरात्मा का प्रभाव एक तरह की कान्ति है जो अधिक-से-अधिक अपारदर्शक पदार्थों में से गुज़रती है और निश्चेतना में भी काम करती है।

लेकिन उसकी क्रिया धीमी होती है और दीखने-लायक कोई परिणाम पाने में बहुत लम्बा समय लगता है।

३१ जुलाई १९६०

मधुर माँ,

श्रीअरविन्द कहते हैं कि सामान्य अन्तःकरण की आवाज़ अन्तरात्मा की आवाज़ नहीं होती। तब वह क्या है?

सामान्य अन्तःकरण की आवाज़ नैतिक आवाज़ होती है, एक ऐसी नैतिक आवाज़ जो अच्छे और बुरे के अन्दर फ़र्क करती है, हमें शुभ करने के लिए प्रोत्साहित करती और अशुभ करने से रोकती है। सामान्य जीवन में यह आवाज़ तब तक बहुत उपयोगी होती है जब तक मनुष्य अपनी चैत्य सत्ता के बारे में सचेतन न हो जाये और अपने-आपको पूरी तरह उसके पथ-प्रदर्शन में न दे दे—दूसरे शब्दों में कहें तो जब तक वह सामान्य जीवन से ऊपर न उठ जाये, अपने-आपको समस्त अहंकार से मुक्त न कर ले और भागवत इच्छा का सचेतन यन्त्र न बन जाये। स्वयं अन्तरात्मा भगवान् का अंश होने के नाते सभी नैतिक और सदाचारी धारणाओं से परे है। वह दिव्य प्रकाश में स्नान करती और उसे अभिव्यक्त करती है, लेकिन वह समस्त सत्ता पर शासन तभी कर सकती है जब अहंकार विलीन हो जाये।

१२ अगस्त १९६०

मधुर माँ,

आपने कहा है कि श्रीअरविन्द के कमरे में बैठ कर ध्यान करने की अनुमति पाने के लिए यह ज़रूरी है कि “व्यक्ति ने उनके लिए बहुत कुछ किया हो”। इससे आपका क्या मतलब है? हम भगवान् के लिए ऐसा क्या कर सकते हैं जिसे “बहुत कुछ” माना जा सके?

भगवान् के लिए कुछ करने का मतलब है उन्हें ऐसा कुछ देना जो तुम्हारे पास है या जो तुम करते हो, या जो तुम हो। दूसरे शब्दों में, उन्हें अपनी सम्पत्ति में से कुछ देना या अपना सारा माल-मत्ता दे देना, अपने कर्म का कुछ अंश या अपने सारे क्रिया-कलाप अर्पण कर देना, या अपने-आपको पूर्णतया, निःसंकोच भाव से उन्हें सौंप देना ताकि वे हमारी प्रकृति को रूपान्तरित करने और उसे दिव्य बनाने के लिए उस पर अधिकार कर सकें। लेकिन बहुत-से लोग हैं जो कुछ भी दिये बिना हमेशा लेना और ग्रहण करना चाहते हैं। ये लोग स्वार्थी होते हैं और श्रीअरविन्द के कमरे में ध्यान करने-योग्य नहीं हैं।

२६ सितम्बर १९६०

मधुर माँ,

आप आशीर्वाद-दिवसों पर जो सन्देश देती हैं वे कैसे चुने जाते हैं? हमें उन्हें कैसे पहना चाहिये और विशेष रूप से उनमें कौन-सी नयी चीज़ को खोजना चाहिये?

सन्देश प्रायः अवसर या उस समय की आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए चुने जाते हैं ताकि हर व्यक्ति उनमें वह शक्ति या ज्ञान पा सके जो उसे प्रगति करने में सहायता देगा।

हर एक में प्रगति करने की इच्छा आवश्यक चीज़ है—वही हमें भागवत प्रभाव की ओर खोलती और हमें उसकी लायी हुई चीज़ों को ग्रहण करने-योग्य बनाती है।

२६ सितम्बर १९६०

मधुर माँ,

श्रीअरविन्द कहते हैं कि योग-मार्ग का अनुसरण करने से पहले “पुकार और अपनी आत्मा के उत्तर के बारे में निश्चित होओ”, अन्यथा परिणाम संकाटाकीर्ण होगा। लेकिन हम यह कैसे जान सकते हैं कि सचमुच पुकार है या नहीं? और क्या हमारी आत्मा हमेशा योग-मार्ग को नहीं चुनेगी?

श्रीअरविन्द का मतलब यह है कि तुम्हें मानसिक महत्वाकांक्षा या प्राणिक सनक को आध्यात्मिक पुकार न मान लेना चाहिये—क्योंकि वही एकमात्र निश्चित संकेत है कि तुम्हें योग-मार्ग अपनाना

चाहिये। आध्यात्मिक पुकार तभी सुनायी देती है जब समय आ जाता है, और तब आत्मा उत्तर देती और मार्ग पर चल पड़ती है। वह किसी महत्त्वाकांक्षा, गर्व या कामना के झँसे में नहीं आती और जब तक उसे पथ पर चलने के लिए भागवत आदेश नहीं मिलता तब तक धीरज से प्रतीक्षा करती है, यह जानते हुए कि समय से पहले चल पड़ना व्यर्थ तो है ही, हानिकर भी हो सकता है।

१७ अक्तूबर १९६०

मधुर माँ,

श्रीअरविन्द हमसे कहते हैं: “अमर देवों की सुधा की अपेक्षा भगवान् की कृपा को पाना और बनाये रखना ज़्यादा कठिन है।” इसका अर्थ क्या हुआ? क्या केवल हमारी ग्रहणशीलता के आधार पर भागवत कृपा की हमारे ऊपर हमेशा झड़ी नहीं लगी रहती?

भागवत कृपा हमेशा रहती है, शाश्वत रूप से उपस्थित और सक्रिय; लेकिन श्रीअरविन्द कहते हैं कि हमारे लिए उसे ग्रहण करने, बनाये रखने और वह जो देती है उसका उपयोग करने की स्थिति में रहना बहुत कठिन है।

श्रीअरविन्द तो यहाँ तक कहते हैं कि अमर देवों के प्याले से पीने की अपेक्षा यह ज़्यादा कठिन है।

भागवत कृपा पाने के लिए तुम्हारे अन्दर प्रबल अभीप्सा ही नहीं, सच्ची-निष्कपट विनय और सम्पूर्ण विश्वास भी होना चाहिये।

१७ अक्तूबर १९६०

मधुर माँ,

हमेशा चेतना की उसी ऊँचाई पर रहना क्यों सम्भव नहीं होता? कभी-कभी सारे प्रयास और अभीप्सा के बावजूद मैं गिर पड़ती हूँ।

श्रीअरविन्द “आत्मसात् करने के काल” की बात कहते हैं। वह क्या है, माताजी?

इसका कारण यह है कि व्यक्ति एक ही टुकड़े का बना हुआ नहीं है, बल्कि बहुत-सी विभिन्न सत्ताओं से बना है जो कभी-कभी एक-दूसरे से विपरीत भी होती हैं। कुछ आध्यात्मिक जीवन चाहती हैं, कुछ और सांसारिक वस्तुओं से चिपकी रहती हैं। इन सब भागों को सहमत कराना और उन्हें एक करना बहुत लम्बा और कठिन काम है।

अधिक विकसित भाग जिस शक्ति और ज्योति को पाते हैं वे धीरे-धीरे आत्मसात् करने की क्रिया द्वारा अन्य सब भागों में फैलती हैं, आत्मसात्करण की इस अवधि में ऐसा लगता है

कि अधिक विकसित भागों की प्रगति में बाधा आती है। श्रीअरविन्द ने इसी के बारे में कहा है।
२९ अक्तूबर १९६०

मधुर माँ,

प्रायः परम आनन्द की घड़ियों को जीना सम्भव होता है क्योंकि हम अपने व्यक्तिगत भगवान् के सम्पर्क में होते हैं। परात्पर भगवान् के सम्पर्क में कैसे आया जाता है?

यह एकदम निश्चित है कि अगर तुम सचमुच “अपने व्यक्तिगत भगवान्” के सम्पर्क में हो तो तुम पूरी तरह, भली-भाँति जान लोगे कि “परात्पर भगवान् की ओर कैसे पहुँचा जाये”; क्योंकि दोनों एक ही हैं। केवल उनकी ओर जाने का तरीका अलग है: एक है हृदय के द्वारा और दूसरा मन से।

२९ अक्तूबर १९६०

मधुर माँ,

अपने पिछले पत्र में मैंने अपनी बात अविचारित ढंग से रखी थी और आपके उत्तर ने मुझे अपने सच्चे न होने का अनुभव कराया। मैं कहना यह चाहती थी कि अपनी ग्रहणशीलता के सर्वोत्तम क्षणों में हमारा एक ऐसी उपस्थिति के साथ सम्पर्क होता है जिसे अपने-आपको अर्पित करने की हमें चरम आवश्यकता मालूम होती है और जो हमारे समस्त प्रेम और आराधना का पात्र है। इस उपस्थिति को मैंने “व्यक्तिगत भगवान्” कहा है, जो वस्तुतः आपके सिवा कोई और नहीं। मुझे मालूम है कि वर्तमान स्थिति में भगवान् की पूरी धारणा बनाना सम्भव नहीं है।

तो माँ, अब मुझे बतलाइये कि क्या “परात्पर भगवान्” के बारे में कुछ जानना सम्भव है?

मेरे उत्तर में तुम्हारे प्रश्न का उत्तर समाया हुआ था, क्योंकि मैं भली-भाँति जानती थी कि तुम कोई दावा नहीं कर रही थीं, लेकिन अपनी बात को ठीक तरह से व्यक्त नहीं कर पा रही थीं।

‘परात्पर भगवान्’ को पाने के लिए व्यक्ति को बौद्धिक साधना करनी होगी, ज्ञान-मार्ग अपनाना होगा और उत्तरोत्तर निरसन द्वारा देश और काल और रूप से परे ‘निरपेक्ष’, एकमात्र ‘सत्य’ तक पहुँचना होगा। यह लम्बा और कठिन मार्ग है और है बहुत अधिक श्रमसाध्य मार्ग।

जब कि हृदय द्वारा व्यक्ति अन्तर्यामी भगवान् को ढूँढ़ने के लिए बढ़ सकता है; और अगर व्यक्ति सचमुच कामना और अहंकार के बिना सच्चा प्रेम करना जानता है तो वह बहुत जल्दी उन्हें पा लेता है, क्योंकि वे सदा तुम्हारी सहायता करने के लिए तुमसे मिलने आते हैं।

१२ नवम्बर १९६०

मधुर माँ,

श्रीअरविन्द हमसे कहते हैं, “अपनी पूर्णता में भगवान् हर चीज़ का आलिंगन करते हैं, हमें भी सर्वालिंगनकारी बनना चाहिये।” युवकों में इस वाक्य के बारे में बहुत गलतफ़हमी है। इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि यहाँ शारीरिक आलिंगन का कोई प्रश्न ही नहीं है जैसा कि गली-कूचों के नटखट लड़कों के जैसी रुचि और आदतोंवाले, शरारत करने वाले सुझाव देना चाहेंगे, जो श्रीअरविन्द के लेखन में अपने असंयम के लिए कोई बहाना ढूँढ़ते हैं। दिव्य आलिंगन अन्तरात्मा और चेतना के आलिंगन होते हैं, और वे मनुष्यों में चेतना, समझ और अनुभूति के विस्तार द्वारा, एक ऐसे विस्तार द्वारा ही आ सकते हैं जो तुम्हें पसन्द या ऐकान्तिकता के बिना हर चीज़ को समझने, हर चीज़ से प्रेम करने-योग्य बनाता है।

२६ नवम्बर १९६०

मधुर माँ,

हमें बतलाया गया है कि आश्रम में बच्चों के आने से पहले परिस्थितियाँ बहुत कठोर और अनुशासन बहुत कड़ा था। अब वे परिस्थितियाँ कैसे और क्यों बदल दी गयी हैं?

बच्चों के आने से पहले आश्रम में केवल उन्हीं लोगों को स्वीकृति मिलती थी जो साधना करना चाहते थे और केवल उन्हीं आदतों और क्रियाओं को सहा जाता था जो योगाभ्यास के लिए उपयोगी थीं।

लेकिन चूँकि बच्चों से यह माँग करना अयुक्तियुक्त होगा कि वे साधना करें इसलिए जिस क्षण आश्रम में बच्चों का प्रवेश हुआ, इस कठोरता को गायब होना पड़ा।

२६ नवम्बर १९६०

मधुर माँ,

क्या अपने अन्दर चैत्य सत्ता को पाने से पहले आपसे पूर्णतया और निरपेक्ष भाव से प्रेम करना सम्भव है?

पार्थिव मनुष्य के अन्दर केवल चैत्य सत्ता ही सच्चे प्रेम को जानती है, रही बात पूर्ण प्रेम की, तो वह केवल भगवान् में विद्यमान है।

२६ अप्रैल १९६१

मधुर माँ,

१९६१ के नये वर्ष के सन्देश में आप कहती हैं, “आनन्द का यह अद्भुत जगत् हमारे द्वार पर खड़ा, नीचे धरती पर आने के लिए हमारे आह्वान की प्रतीक्षा में है।” कृपया बतलाइये कि क्या वह अभी तक आ नहीं गया?

आनन्द का जगत् नीचे नहीं आया है, केवल अतिमानसिक ‘ज्योति’, ‘चेतना’ और ‘शक्ति’ आयी हैं।

२६ अप्रैल १९६१

मधुर माँ,

हम इस अद्भुत आनन्द के जगत् को सबसे अधिक प्रभावकारी तरीके से कैसे बुला सकते हैं?

अभीप्सा में सम्पूर्ण सच्चाई और निष्कपटता द्वारा।

२६ अप्रैल १९६१

मधुर माँ,

जब यह आनन्द नीचे उतरेगा तो संसार में इसके दृश्य परिणाम क्या होंगे?

व्यापक सद्भावना और सामञ्जस्य।

२६ अप्रैल १९६१

मधुर माँ,

आजकल आपका प्रतीक और श्रीअरविन्द का नाम सब तरह की चीज़ों पर छापे जाते हैं, दैनिक जीवन की हज़ारों नगण्य छोटी-छोटी चीज़ों पर जिन्हें एक बार काम पूरा हो जाने पर फेंक दिया जाता है, जैसे दियासलाई, पेंसिल, दाँत के बुरुश, कंघी, साड़ी के किनारों पर भी, जिन पर पैर पड़ा करते हैं। क्या इन बहुमूल्य प्रतीकों का इस साधारण ढंग से उपयोग करना ठीक है?

और फिर हम इन चीज़ों से क्या कर सकते हैं माँ, जब हमें उनकी ज़रूरत न रहे? हम उन्हें फेंक नहीं सकते, उदाहरण के लिए, पुराने कैलेण्डरों का भी हमारे पास पुलिन्दा इकट्ठा हो गया है।

भगवान् सब जगह, सब चीज़ों में हैं, उन चीज़ों में भी जिन्हें हम फेंक देते हैं और उनमें भी जिन्हें हम सुरक्षित रखते हैं, उनमें जिन्हें हम पैरों से कुचलते हैं और उनमें भी जिनकी हम

पूजा करते हैं। हमें आदर के साथ जीना सीखना चाहिये और 'उनकी' सतत और निर्विकार उपस्थिति को कभी न भूलना चाहिये।

२ जून १९६१

अगर तुम चित्रोंवाले कैलेण्डरों की बात कह रही हो तो ज़्यादा अच्छा है कि चित्रों को काट लो और अगर तुम उन्हें नहीं रखना चाहती तो 'क' को दे दो जो उनका अच्छा उपयोग करता है।

और अगर तुम कहती हो कि चित्र ख़राब हो गये हैं तो इससे तुम समझ पाओगी कि हम जिन चीज़ों का उपयोग करते हैं उन्हें सावधानी से रखना कितना ज़रूरी है। जब मैं आदर के साथ जीने की बात करती हूँ तो उसका यही मतलब होता है।

जून १९६१

मधुर माँ,

क्या अपनी चैत्य सत्ता को पाने और अपनी चेतना को ऊँचा उठाने का कोई सक्रिय और द्रुत उपाय है?

एक ही तरीक़ा द्रुत हो सकता है कि बस केवल **उसी** के बारे में सोचो और केवल **उसी** को चाहो।

यह प्रभावकारी तो है परन्तु काम के लिए बहुत व्यावहारिक नहीं!

२७ मई १९६३

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. २७५-९०

विकास की भारतीय तथा पाश्चात्य धारणाएँ

समस्त मानवजाति में मनुष्य की आत्मा के आगे एक ही लक्ष्य होता है; परन्तु विभिन्न महाद्वीपों या देशों के लोग उसकी ओर विभिन्न दिशाओं से, विभिन्न सूत्रीकरणों और विभिन्न भावों से बढ़ते हैं। सभी के नीचे स्थित भागवत प्रयोजन की चरम एकता को पहचाने बिना वे एक दूसरे से युद्ध करते और यह दावा करते हैं कि उन्हीं का रास्ता मानवजाति के लिए एकमात्र रास्ता है। एकमात्र वास्तविक और पूर्ण सभ्यता वही है जिसमें भाग्यवश उनका जन्म हो गया है। बाक़ी सबको झुक जाना या नष्ट हो जाना चाहिये। परन्तु वास्तविक और पूर्ण सभ्यता तो अभी खोजे जाने की प्रतीक्षा में है क्योंकि अभी तक मानव-जीवन में नौ दशांश बर्बरता और एक दशांश संस्कृति है। यूरोपीय मानस संघर्ष द्वारा वृद्धि के सिद्धान्त को पहला स्थान देता है। वह संघर्ष द्वारा किसी प्रकार के सामञ्जस्य तक पहुँचता है। लेकिन यह सामञ्जस्य अपने-आपमें प्रतियोगिता, आक्रमण और अगले युद्ध द्वारा वृद्धि के एक संगठन से बढ़ कर कुछ नहीं है। यह एक ऐसी शान्ति है जो स्वयं अपने अन्दर ही सिद्धान्तों, विचारों, हितों, जातियों, वर्गों के नये संघर्षों में निरन्तर खण्डित होती रहती है। यह एक ऐसा संगठन है जो अपने आधार और केन्द्र में अनिश्चित है क्योंकि वह ऐसे अर्ध सत्यों पर आधारित है जो बिगड़ कर पूरा मिथ्यात्व बन जाते हैं। फिर भी वह अभी तक सतत प्राप्ति के लिए बलवान् है या बन रहा है, और शक्तिशाली रूप से विकसित होता तथा औरों को हड़पने और आत्मसात् करने में समर्थ रहा है। भारतीय संस्कृति एक ऐसे सामञ्जस्य के सिद्धान्त पर चली जो अपना आधार किसी ऐक्य में पाने की कोशिश करती है और ज़्यादा महान् ऐक्य की ओर बढ़ती है। उसका लक्ष्य था एक ऐसा चिरस्थायी संगठन जो संघर्ष के सिद्धान्त को कम-से-कम कर दे या बिलकुल ही समाप्त कर दे। लेकिन अन्त में उसने बहिष्करण और अपखण्डन तथा स्थिति की अविचलता से शान्ति और स्थायी अवस्था को पाया। उसने अपने चारों ओर सुरक्षा का जादुई घेरा बना लिया और अपने-आपको हमेशा के लिए उसमें बन्द कर लिया। अन्त में उसने अपनी आक्रामक शक्ति खो दी, आत्मसात् करने की क्षमता कम कर ली और वह अपनी नाकेबन्दियों के अन्दर क्षीण हो गयी। हमारी मानव अपूर्णता की स्थिति में, गतिहीन और सीमित सामञ्जस्य—जो हमेशा अपने-आपको बढ़ाता नहीं रहता, जो नमनीय और लोचदार न हो—कारागार या शयन-कक्ष बन जाता है। सामञ्जस्य अपने रूप में अपूर्ण और अस्थायी से बढ़ कर और कुछ नहीं हो सकता। उसके ओज को तभी बनाये रखा जा सकता है और उसके चरम लक्ष्य को तभी पूरा किया जा सकता है जब वह सदा अनुकूलन, विस्तार और प्रगति करता रहे। उसकी छोटी एकताओं को अधिक विस्तृत, अधिक व्यापक और उससे भी बढ़ कर, अधिक वास्तविक और आध्यात्मिक ऐक्य की ओर बढ़ना चाहिये। अपनी जिस संस्कृति और सभ्यता को अब हमें प्राप्त करना है, उसके विशालतर वक्तव्य में, एक बृहत्तर आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक ऐक्य की बाह्य लेकिन

विविधतापूर्ण अभिव्यक्ति, जिसे यूरोप की यान्त्रिक पद्धति नहीं सह सकती, वह निश्चय ही हमारा मुख्य प्रयोजन होगी। एक सामञ्जस्य, शेष मानवजाति के साथ ऐसी एकता जिसमें हम अपनी आध्यात्मिक और अपनी बाह्य स्वाधीनता को बनाये रख सकें, हमारे प्रयास की एक और दिशा होगी। परन्तु हो सकता है कि अभी जो चीज़ संघर्ष मालूम होती है, वह मानवजाति की उस एकता को सूत्रबद्ध करने से पहले, पहला आवश्यक चरण हो जिसे पश्चिम केवल विचारों में देखता है परन्तु प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि उसे उसकी आत्मा प्राप्त नहीं है। अतः, यूरोप आपस में संघर्षरत हितों और यान्त्रिक संस्थाओं की शक्तियों को संयोजित करके ऐक्य स्थापित करने की कोशिश करता है। लेकिन इस तरह के प्रयास से या तो वह प्रतिष्ठित ही न होगा या रेत की दीवार पर होगा। साथ ही, यूरोप अन्य सभी संस्कृतियों को मिटा देना चाहता है मानों उसी के पास एकमात्र सत्य या जीवन का समस्त सत्य मौजूद है और आत्मा के सत्य के जैसी कोई चीज़ है ही नहीं। आत्मा के सत्य के प्राचीन स्वामी भारत को इस दम्भ-भरे दावे और आक्रमण का प्रतिरोध करना चाहिये और तीव्र विरोधों के बावजूद अपने गभीरतर सत्यों को स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि उन्हीं सत्यों की सुरक्षा में यह एकमात्र आशा रहती है कि मानवजाति किसी नये विध्वंस और आदिकालीन आरम्भ—जिसके साथ पुराने अँधेरे चक्करों का सतत आवर्तन लगा रहता है—की बजाय अन्त में प्रकाश में प्रस्फुटित होगी और आगे बढ़ने की प्रेरणा को चरितार्थ करेगी जो आत्मा की उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति में पार्थिव क्रमविकास को उसकी चढ़ाई के अगले चरण पर ला खड़ा करेगी।

CWSA खण्ड २०, पृ. ९२-९३

श्रीअरविन्द

२१ अगस्त १९५७ का वार्तालाप

माँ, काफ़ी समय से कुछ ऐसा महसूस होता है कि हमारी गतिविधियों में सामान्य चेतना कुछ नीचे गिर गयी है, विशेषकर, जब से आश्रम इतना अधिक बढ़ गया है। इसका क्या कारण है और हम इसका क्या इलाज कर सकते हैं?

क्या तुम आश्रम की सभी गतिविधियों की बात कर रहे हो या केवल खेलकूद की?... आश्रम की सभी गतिविधियाँ?

बहुत अधिक को तो मैं जानता नहीं, माँ, जिनको मैं देखता हूँ उनमें।

(लम्बी चुप्पी के बाद) बात कुछ जटिल-सी है, मैं समझाने की कोशिश करती हूँ।

एक लम्बे अरसे तक आश्रम व्यक्तियों का केवल एक जमघट था, प्रत्येक व्यक्ति किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व करता था, पर एक व्यष्टि के तौर पर ही, उनमें कोई सामूहिक संगठन नहीं था। यह शतरंज-पटल पर रखे पृथक्-पृथक् प्यादों की तरह था—उनमें केवल ऊपर से दीखने वाली एकता थी—या यूँ कहें कि यह एक ऊपरी तथ्य था कि लोग एक स्थान पर एक साथ रहते थे और उनमें कुछ आदतें समान थीं—वे भी बहुत नहीं, बस कुछ एक ही। प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार विकास करता था—या नहीं करता था—और दूसरों के साथ उसका सम्बन्ध कम-से-कम था। इस प्रकार, इस विचित्र समूह का गठन करने वाले व्यक्तियों के मूल्य के अनुरूप यह कहा जा सकता था कि एक सामान्य मूल्य था, वह भी बहुत अस्पष्ट और उसमें कोई सामूहिक संगठन जैसा कुछ नहीं था। यह स्थिति बहुत लम्बे—बहुत ही लम्बे समय तक बनी रही। और यह तो केवल अभी हाल ही में एक सामूहिक संगठन की आवश्यकता अनुभव होनी शुरू हुई—यह ज़रूरी नहीं है कि यह आश्रम तक ही सीमित हो, बल्कि उन सबको भी अपने अन्दर समाविष्ट किये हुए है जो अपने-आपको श्रीअरविन्द का शिष्य कहते हैं—मेरा मतलब है, भौतिक रूप से नहीं, बल्कि अपनी चेतना में—और उनकी शिक्षा के अनुसार जीवन बिताने का प्रयत्न करते हैं। उन सबमें एक ऐसे सच्चे संघ के जीवन की आवश्यकता जाग्रत हो गयी है जो पूर्णतया भौतिक परिस्थितियों पर ही आधारित न हो बल्कि एक गहनतर सत्य का प्रतिनिधित्व करता हो, और जब से अतिमानसिक चेतना और शक्ति का अवतरण हुआ है तब से यह और भी प्रबल हो उठी है। यह एक ऐसे समाज का आरम्भ है जिसे श्रीअरविन्द ने अतिमानसिक या विज्ञानमय समाज कहा है...। निश्चय ही, उन्होंने यह कहा है कि इसके लिए समुदाय के व्यक्तियों के अपने अन्दर भी अतिमानसिक चेतना होनी चाहिये; परन्तु इस व्यक्तिगत पूर्णता तक पहुँचे बिना—बल्कि इस पूर्णता से बहुत दूर रहते हुए भी—जिसे हम

“सामूहिक व्यक्तित्व” कह सकते हैं उसके निर्माण के लिए एक आन्तरिक प्रयत्न भी साथ-साथ चलता रहा है। सच्ची एकता की, एक गहनतर सम्बन्ध की आवश्यकता अनुभव होती रही है और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया जाता रहा है।

इससे कुछ... कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुई, क्योंकि पहले की प्रवृत्ति इतनी अधिक वैयक्तिक थी कि कुछ आदतों में खलल पड़ा, मेरा मतलब यह नहीं है कि भौतिक रूप में पड़ा, क्योंकि चीजें उससे बहुत भिन्न नहीं हैं जैसी पहले थीं, खलल कुछ गहरी चेतना में पड़ा। और **सबसे बढ़ कर** यह—इसी बात पर मैं ज़ोर देना चाहती हूँ—कि इसने कुछ हद तक एक आन्तरिक परस्पर-निर्भरता पैदा कर दी है जिसने, स्वभावतः ही, वैयक्तिक स्तर को—ज़रा—गिरा दिया है, सिवाय उन लोगों के जिन्होंने, हम कह सकते हैं, पहले ही “समान स्तर” करने की प्रवृत्ति का मुकाबला करने-लायक पर्याप्त सक्षम आन्तरिक सिद्धि पा ली है। इसी से ऐसा लगता है कि सामान्य स्तर नीचे गिर गया है, पर यह बात ठीक नहीं है। सामान्य स्तर पहले से अधिक ऊँचा है, परन्तु वैयक्तिक स्तर कइयों में नीचे आ गया है, वे लोग भी, जो किसी एक या दूसरी उपलब्धि के योग्य थे, ऐसा अनुभव करने लगे हैं मानों उन पर एक भार आ पड़ा है, जो उन्हें पहले नहीं ढोना पड़ता था, वे नहीं जानते कि ऐसा क्यों हुआ, यह भार परस्पर-निर्भरता का परिणाम है। पर यह केवल एक अस्थायी प्रभाव है जो उलटे, सुधार की ओर, एक बहुत स्पष्ट सामान्य प्रगति की ओर ले जायेगा।

निस्सन्देह, यदि प्रत्येक व्यक्ति सचेतन होता और इस प्रकार के समतलन के प्रभाव के आगे झुकने की बजाय इसका मुकाबला करता, ताकि वह समुदाय से आने वाले तत्त्वों, प्रभावों, प्रवाहों को रूपान्तरित कर सकता, उन्हें परिवर्तित एवं उन्नत कर सकता तो **समूचा समुदाय** ही वेग के साथ उच्चतर चेतना में उठ जाता और उससे बहुत आगे बढ़ जाता जहाँ वह पहले था।

मैंने जब तुमसे प्रयत्न करने की अधिकाधिक अनिवार्य आवश्यकता के बारे में कहा था—विस्तारपूर्वक समझाये बिना—तो मेरा अभिप्राय यही था। और निश्चित रूप से मेरा यह इरादा भी था कि मैं तुम्हें एक दिन यह समझाऊँ कि तुम जो व्यक्तिगत प्रयत्न करोगे उससे केवल व्यक्तिगत उन्नति ही न होगी, बल्कि यँ कह सकते हैं कि, वह फैलेगी या उसके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामूहिक परिणाम होंगे। परन्तु मैंने कुछ नहीं कहा क्योंकि मैं महीनों से व्यक्तिगत चेतना को सामूहिक व्यक्तित्व की आवश्यकता को स्वीकार करने, बल्कि कह सकती हूँ कि उसे मानने के लिए ही तैयार करना चाह रही थी। यही चीज़ है जो तुम्हें अब बतायी जानी चाहिये। इस ऊपर से देखने वाले पतन का, जो अकेला नहीं है, दूसरा कोई कारण नहीं। यह विकास की सर्पिल गति है जिसकी यह माँग है कि व्यक्ति उपलब्ध स्थिति से दूर चला जाये, ताकि वह उपलब्धि न केवल अधिक विस्तृत, बल्कि अधिक ऊँची भी हो जाये। यदि इसमें प्रत्येक व्यक्ति चेतन रूप से और सद्भावना के साथ सहयोग दे तो यह विकास कहीं अधिक द्रुत गति से आगे बढ़ेगा।

यह एक अनिवार्य आवश्यकता है यदि तुम चाहते हो कि आश्रम का यह जीवन जीने-लायक

हो। प्रत्येक वस्तु जो उन्नति नहीं करती आवश्यक रूप से अवनत होने लगती है और नष्ट हो जाती है। यदि आश्रम को बने रहना है तो उसे अपनी चेतना में विकास करना होगा और एक सजीव समष्टि बनना होगा। तो यह बात है।

विकास के सर्पिल चक्कर में इस समय हम उपलब्धि की उस रेखा से काफ़ी दूर ही चले गये हैं जहाँ हम कुछ वर्ष पूर्व थे, परन्तु हम दोबारा उस पर लौट आयेंगे, पर पहले से ऊँचे स्तर पर।

तो यह है उत्तर।

कुछ गतिविधियाँ ऐसी हो सकती हैं जो बाहरी तौर से उसके विपरीत मालूम हों जो कुछ मैंने अभी कहा है, पर वह... ऐसा तो सदा ही होता है। कारण प्रत्येक बार जब तुम कोई चीज़ चरितार्थ करना चाहते हो तो पहली कठिनाई जो तुम्हारे सामने आती है वह है विरोध, उन सब वस्तुओं का विरोध जो पहले सक्रिय नहीं थीं और अब विरोध करने के लिए उठ खड़ी हुई हैं। वह सब जो इस परिवर्तन को स्वीकार करना नहीं चाहता, स्वभावतः, भड़क उठता और विद्रोह करता है। पर इसका कुछ महत्त्व नहीं। यह वैसी ही चीज़ है जैसी व्यक्ति में होती है : जब तुम प्रगति करना चाहते हो, जिस कठिनाई को जीतना चाहते हो वह तुरत ही तुम्हारी चेतना में दसगुना अधिक महत्त्वपूर्ण और बलवती हो उठती है। केवल डटे रहने की बात है, बस। वह गुज़र जायेगी।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ९, पृ. १९२-१५

दूसरों की “मदद” करने की इच्छा में मत पड़ो—अपनी आन्तरिक शान्ति तथा सन्तुलन के द्वारा अपना कार्य तथा बातचीत करो, दूसरों की सहायता का भार परम प्रभु पर छोड़ दो। सचमुच कोई भी मदद नहीं कर सकता—केवल ‘भागवत कृपा’ ही सहायता कर सकती है।

—श्रीअरविन्द

पूर्ण आत्मदान

यह सम्पूर्ण आत्मदान, एकमन से किया गया यह समर्पण ही वह भक्ति है जिसे *गीता* ने अपने समन्वय में सर्वोच्च स्थान दिया है। सारे क्रिया-कलाप और सारे प्रयास इस भक्ति के द्वारा परमेश्वर एवं जगदीश्वर के प्रति किये गये अर्पण में बदल जाते हैं। “तू जो कुछ करता है, सुख भोगता है, त्याग करता है, दान देता है, तप करता है अर्थात्, आत्मा के संकल्प और अध्यवसाय को जिस किसी चीज़ में लगाता है, उसे मुझे अर्पण कर दिया कर।”^१ यहाँ जीवन की मामूली-से-मामूली, छोटी-से-छोटी परिस्थिति, अपने-आपका या अपने पास जो कुछ है उसका अतिसामान्य उपहार, अत्यन्त नगण्य क्रिया एक दिव्य अर्थ ग्रहण कर लेती है और परमेश्वर द्वारा स्वीकार्य अर्पण का रूप ले लेती है। और प्रभु उस अर्पण को भगवत्प्रेमी की आत्मा और जीवन को अपनाने का एक साधन बना लेते हैं। कामना और अहंकार द्वारा बनाये गये सब भेद-भाव मिट जाते हैं। चूँकि अपने कर्मों का अच्छा फल पाने का कसाव नहीं होता, असुखकर फल से हटाव भी नहीं होता, बल्कि समस्त कर्म और कर्म-फल उस परम प्रभु पर छोड़ दिये जाते हैं जो जगत् के समस्त कर्म और कर्म-फल के सदा से स्वामी हैं, फिर कोई बन्धन शेष नहीं रह जाता। क्योंकि पूर्ण आत्मदान के द्वारा समस्त आहंकारिक कामना हृदय से लुप्त हो जाती है और पृथक् जीवन का अन्दर से त्याग कर देने पर भगवान् और व्यक्तिगत आत्मा के बीच पूरी एकता स्थापित हो जाती है। समस्त इच्छा-शक्ति, समस्त क्रिया-कलाप, समस्त कर्म-फल उन्हीं भगवान् के बन जाते हैं, कर्म परिष्कृत और ज्योतिर्मय प्रकृति द्वारा दिव्य रूप ग्रहण कर लेते हैं, वे सीमित व्यक्तिगत अहंकार के नहीं रह जाते। सीमित प्रकृति इस प्रकार समर्पण करने पर ‘असीम’ का एक मुक्त माध्यम बन जाती है, आत्मा अपने आध्यात्मिक रूप में, अज्ञान और सीमा से ऊपर उठ कर, ‘अनन्त’ के साथ अपने एकत्व में वापस लौट आती है। ‘भागवत अनन्त’ सभी सत्ताओं में निवास करते हैं, वे सबमें समान हैं, समान रूप से सब प्राणियों के मित्र, पिता, माता, विधाता, प्रेमी और भर्ता हैं। वे न किसी के शत्रु हैं, न किसी से उनका पक्षपातपूर्ण अनुराग है, न किसी को उन्होंने निकाल बाहर किया है, न ही किसी को उन्होंने सदा के लिए दुत्कार दिया है, न वे किसी पर अपनी मनमौज में, स्वेच्छाचारी रूप में अनुग्रह ही करते हैं: सबके सब समान रूप से, अज्ञान में अपने चक्कर काट कर, अन्त में उनके पास पहुँच जाते हैं। पर वह केवल पूर्ण आराधना ही है जो मनुष्य में भगवान् के और भगवान् में मनुष्य के वास को एक सचेतन चीज़ बनाती है और उनके साथ निमग्नकारी तथा पूर्ण एकता लाती है। ‘सर्वोच्च’ के प्रति प्रेम और समग्र समर्पण ही भगवान् के साथ एकता पाने का सीधा और द्रुत मार्ग है।

CWSA खण्ड १९, पृ. ३३३-३४

^१. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ भगवद्गीता, ९/२७

आश्रम का उद्देश्य

मानवजाति की वर्तमान उपलब्धियों में से कोई भी, चाहे वह कितनी भी महान् क्यों न हो, हमारे लिए अनुकरण करने-योग्य आदर्श नहीं बन सकती। मानव आदर्शों के परीक्षण-क्षेत्र के रूप में विशाल जगत् पड़ा है।

हमारा उद्देश्य बिलकुल भिन्न है और अगर अभी हमारी सफलता के अवसर बहुत कम हों फिर भी हमें विश्वास है कि हम भविष्य को तैयार करने के लिए काम कर रहे हैं।

मैं जानती हूँ कि बाह्य दृष्टिकोण से हम जगत् की बहुत-सी वर्तमान उपलब्धियों से नीचे हैं, परन्तु हमारा उद्देश्य मानव-मानदण्ड के अनुसार पूर्णता नहीं है। हम किसी और चीज़ के लिए प्रयास कर रहे हैं जो भविष्य की है।

आश्रम की स्थापना इसीलिए की गयी है और उसका उद्देश्य भी यही है कि वह नये जगत् का पालना बने।

ऊपर की प्रेरणा, ऊपर की पथ-प्रदर्शिका शक्ति और ऊपर की सर्जक शक्ति नयी उपलब्धि के अवतरण के लिए कार्यरत हैं।

केवल अपनी त्रुटियों, अपनी अपूर्णताओं और अपनी असफलताओं के नाते आश्रम वर्तमान जगत् का है।

मानवजाति की वर्तमान उपलब्धियों में से किसी में भी वह शक्ति नहीं है जो आश्रम को उसकी कठिनाइयों से बाहर निकाल सके।

आश्रम के सभी सदस्यों का पूर्ण परिवर्तन और अवतरित होते हुए 'सत्य' के 'प्रकाश' की ओर सर्वांगीण उद्घाटन ही उसे अपने-आपको चरितार्थ करने में सहायता दे सकते हैं।

निस्सन्देह, यह बहुत कठिन कार्य है, लेकिन हमें इसे पूरा करने की आज्ञा मिली है और हम धरती पर केवल इसी उद्देश्य से हैं।

हम परम प्रभु की 'इच्छा' और 'सहायता' में अडिग विश्वास के साथ अन्त तक चलते चलेंगे।

द्वार खुला हुआ है और उन सबके लिए हमेशा खुला रहेगा जो इस उद्देश्य के लिए अपना जीवन देने का निश्चय करें।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ११५-१६

श्रीअरविन्द के उत्तर (८२)

कामुक-आवेग मेरे अन्दर घुसने की कोशिश कर रहा और मेरे चारों तरफ़ मँडरा रहा है। मेरा अनुमान है कि यह संवेग भोजनालय की उस घटना से मुझ पर हावी हो गया होगा जब मैंने 'च' और 'प' को बड़ी हँसी-खुशी एक-दूसरे से बतियाते देखा। उस समय मैंने महसूस किया कि जो वस्तु इन्हें प्राप्त हुई है उसका चुपचाप आनन्द उठाने के बदले ये उसे बाहर वातावरण में क्यों फेंक रहे हैं?

अगर वह आवेग तुम्हारे अन्दर फिर से घुस जाये तो यह तो बड़ी दुःखद बात होगी। मैं आशा करता हूँ कि उस मँडराने का अन्त उसे हमेशा के लिए दूर उड़ा देने में होगा। बाक़ी सब चीज़ों के बारे में मैं कह सकता हूँ कि अपने अन्दर उस आनन्द को सँजोये रखने की कला जानना योग का आधा रहस्य पाना है—अगर व्यक्ति ऐसा नहीं करता तो वह अपनी यात्रा आवश्यकता से दसगुनी ज़्यादा लम्बी कर देता है और साथ ही, आवश्यकता से कहीं अधिक उतार-चढ़ावों में से गुज़रता है।

१ मई १९३५

'श' के साथ पढ़ कर जब मैं रात को दस बजे घर लौटा तो सो न सका—मेरे मन में धुँधलका छाया हुआ था या मैं कल्पना-लोक में विचर रहा था। अपनी दिनचर्या की जुगाली करते समय मैंने महसूस किया कि अनिद्रा का कारण 'च' और 'प' की बातों पर मेरा ध्यान देना हो। या फिर 'श' के साथ सम्पर्क इसकी वजह हो, या तो पढ़ने के समय वह अन्तर्मुख न रहा हो या फिर वातावरण में ही कोई अस्पष्टता हो जिसे मैं आसानी से पकड़ नहीं पा रहा।

इनमें से कोई भी कारण पर्याप्त है। लेकिन, जैसा कि तुम कह रहे हो, ज़्यादा तो यही लगता है कि वातावरण में ऐसी कोई लहर हो।

'श' के साथ श्रीमाँ के 'वार्तालाप' (२८ अप्रैल १९२९, खण्ड ३) का पठन, उस पर मनन करते समय हम एक ऐसे स्थान पर आये जो मुझे द्वयर्थक लगा। श्रीमाँ कहती हैं: "...और जिन लोगों की इच्छा भाग जाने की है, वे भी, हो सकता है कि, दूसरी दिशा में पहुँच कर यह अनुभव करें कि आख़िर इस तरह भाग आने का कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।" क्या "दूसरी दिशा में पहुँचने" का यह अर्थ है

कि जब वे इस जगत् में आ जाते हैं या जब वे उस निश्चल-नीरवता तथा शान्ति के जगत् में पहुँच जाते हैं जो उन्होंने सिद्ध कर ली हैं? और वे भला यह कैसे जानेंगे कि “अन्ततः वह भाग जाना बहुत मायने नहीं रखता”? अगर पहली बात सही है तो क्या इसका यह अर्थ है कि उन्हें अपने पिछले जन्म की अनुभूतियाँ याद हैं? अगर दूसरी बात सही है तो क्या इसका यह मतलब है कि वे मृत्यु के बाद उस जगत् में चीज़ों की तुलना करते, उनका नाप-जोख करते हैं?

नहीं—“दूसरी दिशा में पहुँच जाने” का अर्थ बस यही है कि “जब वे मृत्यु को प्राप्त होते हैं”। श्रीमाँ का अभिप्राय यह था कि जब वे सचमुच निर्वाण में पहुँच जाते हैं तो पाते हैं कि यह चरम हल या ‘परम’ की महानतम उपलब्धि नहीं है और यह कि उस महानतम-विस्तृततम उपलब्धि तक पहुँच पाने के लिए उन्हें अन्ततः इस जगत् के क्रिया-कलाप में अपने हिस्से की भूमिका निभाने यहाँ वापस आना ही होगा।

मेरे लिए यह एकदम स्पष्ट है कि सामान्यतः दूसरों के साथ सम्पर्क, भले वह एक मुस्कान-भर हो या चलते-फिरते यों ही एकाध शब्द का आदान-प्रदान, व्यक्ति को उसकी सुखद अवस्था से छितरा देता है। ऐसा तब अधिक होता है जब सम्पर्क प्रतिजाति से होता है। लेकिन कभी-कभी वे, जिनके अन्दर अपने-आपको छितरा देने की सामर्थ्य होती है, ऐसा लगता है कि उसे आगे बढ़ा कर दूसरों में भी फैला देते हैं। मुझे बहुत बार लगता है कि ‘म’ किसी भी विषय पर—भोजन से लेकर साधिकाओं तक—बेतरतीबी से बोलता ही रहता है, और चूँकि मैं उससे कतरा कर बच नहीं सकता इसलिए मुझे हम दोनों के बीच एक दीवार बनाये रखनी होती है। कभी-कभी बातचीत की अपनी रौ में वह विषय से एकदम अलग, ऊलजलूल-सी बातें करने लगता है। दूसरों के साथ, जो काम के बारे में मुझसे बातचीत करते हैं, मैं देखता हूँ कि वे किसी-न-किसी तरह से ‘च’ का दोष निकालने पर तुले रहते हैं और उसे न्याय के तराजू पर तोलना चाहते हैं; इसलिए काम के बारे में बातें करना भी सुखद नहीं होता।

‘म’ की बातचीत निश्चित रूप से उसकी साधना के लिए बहुत लाभकारी नहीं है और मेरे खयाल से वह इस बात को जानता है—लेकिन अभी तक अपनी ज़बान पर लगाम लगाने के लिए उसने कोई सच्चा प्रयास नहीं किया है। सामान्य प्रकार की बातचीत आसानी से तुम्हें छितरा देती और तुम्हारी आन्तरिक अवस्था को नीचे उतार लाती है, क्योंकि वह सामान्यतः निम्नतर प्राण से आती है और भौतिक मन चेतना के केवल उसी भाग को अभिव्यक्त करता है—सत्ता को बहिर्मुख कर देने की उसकी आदत होती है। यही कारण हो कि निस्सन्देह इतने

सारे योगी मौन तथा नीरवता में शरण लेते हैं।

२ मई १९३५

मुझे आश्चर्य होता है कि यहाँ कोई किसी की बुद्धिमत्ता से कैसे आकर्षित हो सकता है भला जब यह बात प्रायः एक सुस्थापित तथ्य बन गयी है कि बुद्धि यहाँ या कहीं भी इतनी महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं है। और सभ्यता के वर्तमान काल में तो यह इतनी व्यापक और सस्ती बन गयी है कि दुनिया में हज़ारों की तादाद में बुद्धिजीवी भरे पड़े हैं और हर एक अपनी दिशा में निपुण हो सकता है। औसत दर्जे के लोग भी प्रक्रिया और लगन से उत्तम बुद्धिजीवी बन जाते हैं। जब तक कि बुद्धि बहुत ज्यादा परिष्कृत, सूक्ष्म और पवित्रीकृत न हो, तब तक मुझे उसमें कोई रस नहीं।

बात सच है, लेकिन अगर ज्ञान का बहुत अधिक दावा करने वाला कोई व्यक्ति अपने विचारों को तर्क का जामा पहना कर, बहुत प्रशंसनीय शब्दों में प्रस्तुत करे तो उसकी बातों का असर उन पर होता ही है जिन्होंने अभी तक यह क्षमता हासिल नहीं की है। भले व्यक्ति न भी सोचे फिर भी उसके भौतिक मन में तो यह भाव रहता ही है कि, “अमुक व्यक्ति कितना अच्छा बोलता है और बहुत जानकार भी लगता है। उसकी बात सही ही होगी।”

अगर यह सूर्य-सावित्री (सूर्यदेव) मेरे अन्दर कार्य कर रहे हैं तो वे उतनी ही उग्रता के साथ बाहरी वातावरण में भी कार्यरत हैं। सामान्यतया, वर्ष के इस हिस्से में बहुत गरमी होती है, लेकिन पिछले कुछ सालों से प्रायः हफ़्ते, दो हफ़्ते में बारिश हो ही जाया करती थी। लेकिन इस साल तो ऐसे कोई आसार ही नहीं नज़र आ रहे। ‘द’ ने मुझसे (एक डॉक्टर की हैसियत से) ‘आरूमे’ (आश्रम का भोजनालय) में कोई ऐसी चीज़ तैयार करने के लिए कहा जिससे लोगों को गरमी से कुछ राहत मिले। अब इसमें एक डॉक्टर क्या तैयार कर सकता है? अपने अन्दर के सौवें हिस्से वाले इंजीनियर की हैसियत से मैंने उसको यह सुझाव दिया कि वह उसकी दीवारों में कई सारे छेदनुमा पाइप लगवा दे और अन्दर एक मशीन भी फ़िट करवा दे जिसके चलने से उन छेदों से पानी के एकदम हलके-हलके फ़व्वारे निकलें, इस तरह वहाँ खाना खाने वाले साधकों पर पानी की झीनी-झीनी बौछार होती रहे। होम्योपैथिक तरीक़ा तो यह होगा कि दीवारों में एक छोटी मशीन लगवा दी जाये जो गरम हवा छोड़े, और साधक अपनी तितिक्षा, यानी सहन करने की अपनी शक्ति की परीक्षा ले सकें! लेकिन, हमारे योग में इस तरह की तितिक्षा के लिए कोई स्थान नहीं दीखता!

ऐसी तितिक्षा के लिए नहीं—इस मामले में हम बुद्ध के मध्यम-मार्ग के सिद्धान्त को रखते हैं। मैंने स्वयं पहले दस दिन, बाद में २३ दिनों का उपवास केवल यह देखने के लिए रखा कि इसका क्या असर होता है और आदमी बिना खाये कितने दिन रह सकता है, इसी तरह के और भी कारण इस उपवास के पीछे थे। मैंने देखा कि इसमें कोई भलाई नहीं है। जो आये (या जो न आये) उसे समता के साथ ले लेना मुझे किन्हीं उग्र तरीकों को अपनाने की बजाय ज़्यादा ठीक लगता है। मेरे ख़याल से अगर भोजनालय में आने वाले शान्ति बनाये रख सकें (अन्दर और बाहर) तो पानी के छोटे-मोटे फ़व्वारों के बिना भी, केवल शान्ति ही काफ़ी होगी।
४ मई १९३५

‘ब’ जिसके साथ मैं विरले ही बातचीत करता हूँ, वहाँ आ पहुँचा जहाँ मैं अपना काम इत्यादि देखता हूँ और उसने मुझसे पूछा कि क्या मैं वहाँ के काम की निगरानी कर रहा हूँ। मेरे “हाँ” कहने पर वह सचमुच जो मुझसे कहना चाहता था वह कह बैठा, “श्रीमाँ तुम पर टोकरे भर-भर कर कृपा उँडेल रही हैं।” मैंने कहा, “श्रीमाँ सबको देती हैं, विशेष रूप से मुझे नहीं।” उसने कहा, “लेकिन प्रणाम के समय मैंने खुद अपनी आँखों से यह देखा, मैं तुम्हारे पीछे ही था।” मैं ताड़ गया कि उसका आशय क्या था। उसने कहा कि वह मुझसे ईर्ष्या करता है। मैंने कहा, “तुम्हारी निष्कपटता और कड़े अनुशासन को देख मुझे तुमसे डाह होती है।” माँ की पूरी-पूरी कृपा पाये बिना और अपने अन्दर किसी ठोस वस्तु के हुए बिना, व्यक्ति का शरीर इतना हट्टा-कट्टा और मज़बूत नहीं हो सकता!

मुझे नहीं मालूम कि क्या ‘ब’ बहुत अनुशासन में रहता है (हालाँकि वह अनुशासनप्रिय होने के प्रबल प्रयासों में लगा रहता है), लेकिन निश्चित रूप से उसके ऐसे मज़बूत शरीर का सारा श्रेय आश्रम को जाता है। ख़ासकर जब हम उसकी उस छवि को याद करते हैं जब वह नया-नया यहाँ आया था, कैसा सीक-सलाई था, तोला-भर मांस भी नहीं था उसके शरीर पर! ‘ड’ की एलबम में उसके फ़ोटो को सामने रख कर शीर्षक देना चाहिये—“हर्व्यूलिस का पुनर्जन्म” या “पॉण्डिचेरी में भीमसेन”।

५ मई १९३५

‘ब’ कल रात मुझसे मिला और उसने कहा कि वह मुझसे ईर्ष्या नहीं करता बल्कि मुझसे प्रसन्न है और चाहता है कि मेरा शरीर भी मज़बूत बने। उसकी यह बात मुझे अन्दर तक छू गयी—एक तरीक़े से उसकी बात ठीक थी। कई मामलों में मुझे मज़बूत बनना ही होगा, और निश्चय ही मेरे अन्दर की प्रचण्ड दुर्बलताओं की वजह से ही श्रीमाँ मेरी इतनी सहायता इत्यादि करती हैं, या जैसा कि वह कहता

है, “टोकरे भर-भर कर कृपा उँडेलती हैं”। अगर ‘ब’ को मेरी दुर्बलताओं के बारे में पता लग जाये तो वह भयभीत हो उठेगा।

ख़ैर, उसने हमेशा स्वयं अपनी दुर्बलताओं (अन्दरूनी) के बारे में शिकायतें की हैं, इसलिए शायद तुम्हारी सुन कर वह डरे नहीं, हालाँकि यह बात सच है कि उसकी कमज़ोरियाँ तुम्हारी कमज़ोरियों से अलग हैं। सभी के अपने-अपने राह के रोड़े होते हैं और सभी को उन्हें अपने रास्ते से हटाना होता है।

लेकिन जहाँ तक मुझे मालूम है, ‘ड’ की एलबम में ‘ब’ का एक भी चित्र नहीं है। जब-जब वह फ़ोटोग्राफ़ी के लिए जाता है, इस बात का बड़ा ध्यान रखता है कि उसके साथ बस उसके खास दोस्त हों या वे जिन्हें वह अच्छी तरह जानता है, और अक्सर उसकी कृपा सुन्दर लोगों पर ही बरसती है। आपको ‘र’ के दसके भंगिमाओं में खिंचे चित्र मिल जायेंगे जब कि ‘क्ष’, ‘क’ या ‘अ’ का एक भी नहीं दिखेगा। इस दृष्टिकोण से ‘ड’ के लिए ‘ब’ का कोई महत्त्व नहीं है, लेकिन मेरे ख़याल से ‘ब’ के झुण्ड में भी ‘ड’ उतना ही महत्त्वहीन है। कुछ ही लोगों को ‘ड’ की एलबम के बारे में पता होगा, जब कि शायद ही कोई ऐसा हो जो ‘ब’ को न जानता हो।

मेरा ख़याल था कि शायद ‘ब’ वहाँ हो क्योंकि ‘ड’ लुहारख़ाने के चित्र खींचने गया था। मुझे लगता है कि ‘त’ और ‘ह’ के ही सबसे ज़्यादा चित्र हैं। मेरे विचार से ‘क’ चित्र खिंचवाने की परवाह नहीं करता। मेरा ख़याल है कि ‘ड’ ने ‘क्ष’ से कहा कि वह उसका चित्र खींच दे—क्योंकि ‘क्ष’ ने एक बार मुझसे इसकी अनुमति माँगी थी, मुझे ऐसा याद पड़ता है, लेकिन शायद कोई परिणाम आया ही नहीं।

‘ज’ ने मुझसे पूछा कि पिछले दो दिनों से मैं इतना गम्भीर क्यों हूँ भला? मैंने कहा कि नहीं, कोई बात नहीं है। उसने सोचा कि मैं या तो अवसाद में हूँ या फिर थकान से चूर। मैंने कहा कि न मैं उदास हूँ न ही थका हुआ। उसके हिसाब से, व्यक्ति को हमेशा ठहाके लगाना, शोर मचाना और भाग-दौड़ ही करते रहना चाहिये—जैसा कि वह खुद करता है! क्या गम्भीर होना अपने-आपमें कोई भूल है? शायद उसने मुझे इसलिए क्लान्त पाया हो क्योंकि (उसकी अपनी शब्दावली में) मैंने उसे अपना प्राण नहीं दिया। लेकिन किस कारण क्लान्त? कैसा तो सुझाव!

लेकिन अगर किसी को गम्भीर रहना है तो क्यों न रहे वह गम्भीर? हो सकता है कि जीवन एक मज़ाक हो, हालाँकि सब इसे इस रूप में नहीं मानते—लेकिन तुम सारे समय हँसी-ठट्टा

तो नहीं कर सकते। यह तो ऐसा हुआ मानों व्यक्ति तब तक गम्भीर नहीं हो सकता जब तक वह या तो (१) बहुत गुस्से में हो, (२) असन्तुष्ट हो, (३) दुःखी और दयनीय हो। लेकिन निश्चय ही जब तुम कुछ सोच रहे हो, तुम किन्हीं गम्भीर चीज़ों में लगे हो या यह कि बस तुम ठहाके नहीं मार रहे हो, तुम गम्भीर रह सकते हो। और क्या कोई बिना रुके चौबीसों घण्टे बस हँसता ही हँसता रह सकता है?—पेट की मांसपेशियाँ इसे ले नहीं पायेंगी, यहाँ तक कि हँसी का अधिमान, यानी रिकॉर्ड बनाने वाले अमरीकी भी ऐसी कसौटी पर दाँव नहीं लगायेंगे।
६ मई १९३५

कर्मचारियों ने मुझसे 'च' के जन्मदिन की तारीख पूछी। उनमें से एक ने, जो पिछले साल फूल नहीं ला सका था, कुछ महीने पहले तारीख के बारे में पूछा था! मुझे पता नहीं कि क्या पिछले साल की तरह वही समान तारीख होगी या फिर, जैसा कि मैंने सुना है कि हर साल अलग तारीख हो जाती है?

तारीख हमेशा वही रहती है, क्योंकि अंग्रेज़ी के कैलेण्डर के हिसाब से यहाँ जन्मदिन मनाया जाता है।

'श' के साथ फ्रेंच पढ़ते हुए मैं भावानुवाद के तरीके का भी अनुसरण करता रहता हूँ। मैं उसके साथ श्रीमों के 'वार्तालाप' पढ़ रहा हूँ। हम पढ़ते हैं और वह मुझे समझाता है, और कभी-कभी मैं भी समझाने की कोशिश करता हूँ। लेकिन अभी तक व्याकरण में उसकी बहुत पकड़ नहीं है—उदाहरण के लिए, उसे पता नहीं था कि "vivre" (जीना) शब्द का भूतकालिक शब्द "vécu" (जी लिया) है। लेकिन वह फ्रेंच में समझा सकता है, और फिर मैं तो बस अपने फ्रेंच के उच्चारण सही करना चाहता हूँ, मेरे लिए वह एकदम ठीक है।

'श' व्याकरण कुछ अधिक सीख सकता है, यह उसके स्वयं के लिए बहुत लाभप्रद होगा। इस मामले में वह बेहद आलसी है।

७ मई १९३५

मैं पकड़ नहीं पा रहा, लेकिन कोई चीज़ मुझे बेचैन कर रही है। मुझे मालूम नहीं कि इसकी वजह मेरा सन् १९३० के फ्रेंच-अखबार पढ़ना है—जिन्हें मैं भाषा की दृष्टि से पढ़ रहा हूँ—लेकिन जिसके विषय एकदम वाहियात-से और अरुचिकर होते हैं। या फिर इसलिए कि मैं उन्हें काम के समय पढ़ता हूँ?

मुश्किल है कहना। मेरे खयाल से पुराने अखबार पढ़ने से ज़्यादा अवसादकारी और कुछ नहीं हो सकता—काम के समय पढ़ने का भी कुछ असर हो सकता है। लेकिन कभी-कभी ऐसी अनिश्चित चीज़ों के पीछे दिखायी न देने वाले कारण होते हैं—शायद ऐसे कारण जो हवा में तैरते रहते हैं।

८ मई १९३५

‘ग’ के घर पर ‘त’ मुझसे और ‘छ’ से मिला और उसने हमें अपना संगीत सुनने के लिए न्योता दिया। फिर मुझे याद आया अपना वह सपना जिसमें मैंने ‘ह’ और ‘त’ को बैठे हुए देखा था और ‘ह’ एक बहुत ही सुन्दर गाना गा रहा था। सपने में ही मेरे अन्दर यह विचार आया कि ‘त’ का संगीत चैत्य-संगीत है, जैसा कि ‘फ’ ने मुझसे कहा था। और ‘ह’ का अभी तक प्राणिक ही है, यद्यपि तकनीकी दृष्टि से वह ‘त’ से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। ‘त’ और ‘ह’ या ‘ज्ञ’ के बीच के वाद-विवाद के कारण ही क्या हमारे यहाँ पिछले एक साल या उससे भी अधिक समय से संगीत का कोई कार्यक्रम नहीं हुआ?

माँ ने देखा कि यह सारा मामला बहुत ज़्यादा वैर-भाव, लड़ाई-झगड़े और दुर्भावनाएँ खड़ी कर रहा है, इसलिए उन्होंने सब रद्द कर दिया।

या फिर जॉर्ज पंचम और महारानी मैरी की रजत-जयन्ती के अवसर पर विश्व-भर में चल रहे समारोहों के कारण यहाँ संगीत का कोई कार्यक्रम नहीं हो रहा, विशेषकर भारत में और पॉण्डिचेरी में भी तो छिटपुट चल रहे हैं। क्या यह चीज़ विरोध की लहरें नहीं उठायेगी?

लेकिन मेरे खयाल से इस मामले में पॉण्डिचेरी का नाम तो कहीं नहीं लिया गया है? अगर हो भी तो भला जॉर्ज और मैरी को हमसे क्या वास्ता और हमारा जॉर्ज और मैरी से क्या लेना-देना?

९ मई १९३५

काम के समय पढ़ने से बेचैनी क्यों हो भला? अगर सारे समय काम न हो तो आदमी करे क्या? ‘च’ और ‘अ’ की बात दूसरी है जिनके हाथ में महत्त्वपूर्ण कार्य हैं, और उन्हें बहुत-सी चीज़ों के बारे में सोचना और भविष्य के लिए भी योजना बनानी होती है। यहाँ तो जैसे ही हमें ईंट और गारा मिल जाता है, तो मिस्त्रियों को काम समझा देने के बाद सोचने के लिए ज़्यादा कुछ नहीं रहता। काम के समय मैं हमेशा नहीं पढ़ता—मैं तभी पढ़ता हूँ जब देखता हूँ कि काम इस तरह का है

जिसमें मुझे ज़्यादा ध्यान देने की ज़रूरत नहीं है। मेरी समझ में नहीं आता कि किस सिद्धान्त पर काम के समय पढ़ने की मनाही बेकार में क्यों दी जाती है? और अगर हम दिन में न पढ़ें तो हमारे पास पढ़ने के लिए सचमुच समय ही कहाँ रहता है।

शुरू-शुरू में काम के समय पढ़ना इसलिए हतोत्साहित किया जाता था क्योंकि काम के ऐसे निरीक्षक या कार्यकर्ता थे जो अपना सारा समय या अधिकांश पढ़ने में ही बिता दिया करते थे और फलस्वरूप सचमुच ढंग की निगरानी के बिना, कर्तव्य-कर्म (उदाहरण के लिए, दरवाज़े की निगरानी पर रहना इत्यादि) जैसे-तैसे और बहुत लापरवाही से किया जाने लगा था। साधना के रूप में कार्य करना तो परे सरका दिया गया था ताकि पठन-पाठन हो सके, वह भी साधना के तौर पर तो कतई नहीं। बहरहाल, अब स्थिति कैसी है पता नहीं, लेकिन उस समय तो निश्चित रूप से इस नियम को लागू करने की बहुत ज़रूरत थी।

सारे दिन मैं इतना उनींदा था कि मुझे ऐसा लगा कि मैं शाश्वत काल तक सोता ही रहूँगा। लेकिन हाय! ऐसा निर्वाण मेरे नसीब में बदा नहीं था। चार बजे 'स' (एक फ्रेंच साधक) मुझे मिल गया और उसने मुझसे दो-चार शब्द कहे। उसने अपने कमरे और उसकी खिड़कियों के बारे में कुछ कहा। वह मेरे साथ अंग्रेज़ी बोलने की कोशिश कर रहा था जब कि मैं फ्रेंच बोल रहा था, स्त्रीलिंग को पुल्लिंग बना रहा था और बहुवचन की संज्ञाओं में एकवचन की क्रिया लगा रहा था! भाषा की इस खिचड़ी ने मेरे निर्वाण पर प्रहार किया और यहाँ तक धराशायी कर दिया कि तमस् जिसे शम (शान्ति) में परिवर्तित हो जाना चाहिये था, अर्ध-रजस् और तपस् में बदल गया!

इसके बाद शायद निर्वाण में जाना ठीक नहीं होता, क्योंकि सम्भवतः तब वह ऐंग्लो-फ्रेंच निर्वाण बन जाता, तब तो मामला भीषण हो जाता! फ्रेंच और अंग्रेज़ी-निर्वाण के मिश्रण से कहीं ज़्यादा अच्छा है—तपस् का रजस् के साथ मिश्रण।

आखिर फ्रेंच जानने की आवश्यकता ही क्या है? काम के सिलसिले में हमारा बाहर के उन लोगों से कोई विशेष सम्पर्क नहीं होता जो फ्रेंच बोलते हैं, और यहाँ तो सभी तमिल जानते हैं जो यहाँ की आम भाषा है। ज़्यादा-से-ज़्यादा 'च', 'ख' और 'न' को फ्रेंच जानने की आवश्यकता है जिनका बाहर वालों के साथ फ्रेंच बोलने का वास्ता पड़ता है। यहाँ तक कि 'द्य' जिसे न के बराबर तमिल आती है, अपना सारा कार्य सराहनीय रूप से चलाता है। तब केवल फ्रेंच के लिए फ्रेंच सीखने की इतनी कोशिश क्यों की जाये?

निस्सन्देह, यह नहीं कहा जा सकता कि किसी कार्य-विशेष के लिए फ्रेंच सीखना आवश्यक है। बहरहाल, जो केवल अंग्रेज़ी भाषा और उसकी शब्दावली के दायरे में ही सीमित रहता है उसकी अपेक्षा फ्रेंच जानने वाले को उपयोगिता का अधिक विस्तृत आयाम मिलता है—भले अभी न हो, लेकिन बाद में तो इसके फ़ायदे हैं ही।

१० मई १९३५

लेकिन निर्वाण पाने की सम्भावना से नीचे गिर जाना भी थोड़ा ख़तरनाक होता है। अपने सपनों में मैं भौतिक सम्पर्कों और सम्बन्धों की बाढ़ में इतना ज़्यादा डूबा रहता हूँ कि पूछिये मत; कल सारी रात सपने में मैं महाशय 'म'—सूरत के एक आर्य-समाजी नेता, महाशय 'त्र'—मेरे एक बहुत अच्छे मित्र, और कई नाटककारों के साथ था जो मुझसे मिलने आये और उन्होंने मेरे साथ बातचीत भी की। अगर यह सब यहीं पर ख़तम हो जाता तो बड़ी बात न होती, लेकिन ये सभी महाशय सारे दिन मेरे मन में समाये रहे, मुझे परेशान करते रहे और अपने सभी सगे-सम्बन्धियों से मिलने की मेरी कामना को उभार लाये। ख़ासकर अपनी माँ को देखने की लालसा मेरे अन्दर जाग उठी जिनका देहान्त २५ साल पहले हो गया था—मैं उन्हें ठीक उसी भौतिक रूप में देखना चाहता था जिसे कोई भी चमत्कार वापस नहीं ला सकता!

यह अवचेतन के पुराने संस्कारों का प्रबल आवेग होगा। अवचेतन में भौतिक रूप से मिलने की असम्भावना मायने नहीं रखती, क्योंकि वह अपने संस्कार या उस पर पड़ी छाप पर जीता है, समय के तथ्यों या भौतिक सम्भावना पर नहीं।

११ मई १९३५

—श्रीअरविन्द